तिब्बत की हकीकत दिखाता एक फिल्मकार

एमी किन

© The New York Times 2019

तिब्बत की संवेदनशीलता को देखते हुए किसी फिल्मकार के लिए तिब्बत की हकीकत बताना आसान काम नहीं है। इसके बावजूद पेमा सेदेन अपनी फिल्मों में समकालीन राजनीति या दलाई लामा का जिक्र किए बगैर तिब्बतियों के दमन को स्वर दे पा रहे हैं, तो यह बहुत बड़ी बात है।

तिब्बती फिल्मकार और लेखक पेमा सेदेन इन दिनों शर्मिंदा महसूस कर रहे हैं। वर्षों तक उन्होंने चीनी के साथ-साथ अपनी तिब्बती भाषा में बेहद सहजता से कहानियां और फिल्मों की पटकथाएं लिखीं। लेकिन बाद के दिनों में फिल्मों और विज्ञापनों की भारी व्यस्तता के बीच उनके पास सिर्फ उस चीनी भाषा में लिखने का ही विकल्प रह गया, जो न केवल उनकी दूसरी भाषा है, बल्कि कभी-कभी वह तिब्बती पर चीनी भाषा को तरजीह भी देते रहे हैं।

अपनी मातृभाषा तिब्बती की उपेक्षा का तीव्रतर भाव हाल के दिनों में उनमें तब आया, जब उन्होंने खुद को एक ऐसी किताब के लोकार्पण के अवसर पर मंच पर पाया, जो उन्हीं की चीनी भाषा में लिखी पुस्तक *थार्लो* थी, जिसका किसी ने तिब्बती में अनुवाद किया था। 'किसी दूसरे व्यक्ति ने मेरे उपन्यास का मेरी मातृभाषा में अनुवाद किया, जो सुनने में बेहद अजीब लगता है,' *जिंपा* और *थार्लो* जैसी बेहद चर्चित फिल्मों के मृदुभाषी निर्देशक पेमा सेदेन ने हाल ही में एक इंटरव्यू के दौरान कही।

खुद को दोषी मानने की बात एक ऐसे व्यक्ति के मुंह से सुनी जा रही है, जिसके व्यक्तित्व और कृतित्त में उसकी तिब्बती पहचान केंद्रीय स्थान रखती है। और उनकी यह स्वीकारोक्ति उस विरोधाभास के बारे में भी बताती है, जिसका सामना चीन में प्रशिक्षित तिब्बती फिल्मकारों की नई पीढ़ी को रोज ही करना पड़ता है। उनचास साल के पेमा चीन में काम करने वाले ऐसे पहले तिब्बती फिल्मकार हैं, जिसने तिब्बती भाषा की एक पूरी फिल्म की शूटिंग चीन में की है। वह प्रसिद्ध बीजिंग फिल्म एकेडेमी से ग्रेजुएट होने वाले पहले तिब्बती फिल्मकार भी हैं।

वह अपनी तरह के अकेले फिल्मकार हैं, जो मौजूदा दौर में विरल है। आर्ट फिल्म बनाने वाले वह ऐसे निर्देशक हैं, जो सेंसर करने वाली चीन की तानाशाही व्यवस्था में भी उतनी ही सहजता से काम करते हैं। आज भी वह ऐसी कहानियों पर फिल्में बनाते हैं, जो एक ओर आम दर्शकों को संबोधित होती है, तो दूसरी तरफ चीन की कम्युनिस्ट सत्ता पर बांध दी गई हदबंदियों से बाहर होती हैं। वह लगातार फिल्में बना पा रहे हैं, तो इसलिए कि अपनी फिल्मों में वे राजनीतिक संदर्भों को परोक्ष रूप से ले आते हैं। बावजूद इसके कि विदेशों में रहने वाले अनेक तिब्बती उन पर दबाव बनाते हैं कि वह

तिब्बत पर हो रहे चीनी दमन के विरोध में मुखरता से अपनी बात फिल्मों में रखें। हालांकि उनकी सभी फिल्मों की पृष्ठभूमि तिब्बत या तिब्बती इलाके हैं, जो कि चीन में बेहद संवेदनशील विषय है। लेकिन उन फिल्मों में दलाई लामा का जिक्र नहीं है, जिन पर चीनी तिब्बत की आजादी के लिए गोपनीय ढंग से काम करने का आरोप लगाते हैं। ऐसे ही पेमा की फिल्मों में बहुसंख्यक हान चीनी समुदाय का शायद ही कोई चरित्र हो। लेकिन तमाम तिब्बती इस बात पर लगभग सहमत हैं कि पेमा की फिल्में इस अर्थ में दुर्लभ हैं कि वे तिब्बत पर तिब्बतियों की सोच को सामने लाती हैं। पेमा की फिल्में तिब्बत की सीधी-सरल, और कभी गुस्सैल छवि को चित्रित करती हैं।

'पेमा सेदेन की फिल्में इस अर्थ में प्रामाणिक हैं कि वे उन सामाजिक मुद्दों पर फोकस करती हैं, जो सभी तिब्बतियों को जोड़ते हैं,' शेरिंग शाक्य कहते हैं, जो यूनिवर्सिटी ऑफ ब्रिटिश कोलंबिया में तिब्बती साहित्य और समाज के प्रोफेसर हैं। शाक्य इस संदर्भ में पेमा की *थार्लो* फिल्म का उल्लेख करते हैं। यह एक ऐसे गड़ेरिये की कहानी है, जो अपने एकांत पहाड़ी गांव से निकलकर शहर में आता है, लेकिन वहां उसे सरकारी परिचय पत्र पाने के लिए रजिस्ट्रेशन करवा लेने के लिए कहा जाता है। इस पर वह सरल गड़ेरिया जवाब देता है, 'आप जानते हैं कि मैं कौन हूं। क्या इतना काफी नहीं है?'

पेमा की फिल्मों में तिब्बत को देखकर जिस ठंडेपन का एहसास होता है, स्थिति उससे अधिक तनावपूर्ण और राजनीतिक रूप से संवेदनशील है। लाल सेना ने 1951 में तिब्बत पर कब्जा कर लिया, और तभी से वह चीन द्वारा शासित है। हालांकि 2008 में वहां स्थिति बिगड़ी, जब तिब्बतियों ने चीनी कब्जे का विरोध किया, जिसका बीजिंग ने तत्काल दमन किया। उसकी प्रतिक्रिया में अनेक तिब्बतियों ने आत्मदाह कर लिया। ऐसी स्थिति में चीन द्वारा सरकारी आवेदन पत्र के लिए दबाव डालना भी कुछ तिब्बतियों को अपना अपमान जैसा लगता है।

पेमा की ज्यादातर कहानियां वस्तुतः उनके अपने अनुभव ही हैं, जो तिब्बत के पठारी इलाके किंघाई में एक गड़ेरिये के बेटे के तौर पर बचपन गुजारते हुए उनके जीवन का हिस्सा था। वह कहते हैं कि उनके दुर्गम गांव में किताबें इतनी दुर्लभ थीं कि एक डिक्शनरी खरीदने के लिए एक याक बेचना पड़ता था। तिब्बती संस्कृति से जुड़ने का श्रेय वह अपने दादा जी को देते हैं, जो स्कूल से लौटते ही उन्हें बौद्ध धर्म से जुड़ी पांडुलिपियों को कॉपियों में उतारने का काम देते थे। पढ़ाई के बाद किंघाई में ही स्कूल मास्टरी, फिर सिविल सर्विस में एक दशक खपाने के बाद वह फिल्म के अध्ययन के लिए बीजिंग चले गए।

नमस्कार

यशवंत व्यास

गन्ना, लीची, बच्चे, श्वान आदि-इत्यादि

आपने क्या कभी गन्ना काटा है? बीड़, मराठवाड़ा की मजदूरिनें अपने पति के साथ मिलकर ठेकेदार से एक करार करती हैं। एक टन गन्ने काटने के ढाई सौ रुपये। कुल चार से पांच महीनों का काम जिसमें तीन सौ टन काटकर मिले पैसों से साल भर उनकी गृहस्थी चलेगी। इसलिए एक दिन भी छूट जाए तो क्या हो? और वह भी जब, मासिक धर्म के चलते हो तो क्या हो? उन चार दिनों के बदले पांच सौ रुपये रोज की पेनल्टी लगेगी और पैसा कट जाएगा सो अलग। तो मजदूरिन क्या करे? वह कोख के उस हिस्से से ही मुक्त हो जाती है, जिसके चलते जीवन का यह चक्र उसके जीवन को जीवन बनाने के लिए बनाता है। गांव के गांव - जहां औरतों ने गर्भाशय निकाल दिए हैं। सर्जरी के लिए भी ठेकेदार एडवांस देने को तैयार बैठा है। उधार कटाओ, मुक्त हो जाओ।

गन्ना कट रहा है। मिलों में जा रहा है। शक्कर बन रही है। आपकी जीभ की मिठास में जो शक्कर आती है, उसमें एक कोख की चीख भी होती है। पर आपको सुनाई नहीं देती।

एक सुबह बीड़ में होती है, गन्ने के खेतों के बीच। एक सुबह मुजफ्फरपुर में होती है, अस्पताल की देहरी पर। एक सुबह अलवर में होती है, तार-तार बच्ची की शक्ल में। एक सुबह दिल्ली में भी होती है। चिंतक पर चिंता का 'ओवरलोड' है।

चीख के एक तरफ गन्ना है, दूसरी तरफ लीची है। मीठे से मीठे का भाग दो तो कुल कितना मीठा बचा? सयाने कहते हैं मुजफ्फरपुर में भूखे बच्चे लीची खा जाते हैं, इसलिए उसके जहर से मर जाते हैं। 'चमकी बुखार' का कोई इलाज नहीं है, वो तो मरेंगे। ये तो सालाना उत्सव है। इसमें सरकार बेचारी क्या करे? जैसे होली, दिवाली, ईद आती है, वैसे ये भूखे बच्चों की लीची-मौत भी आती है। रिपोर्टर 'चमकी' से त्रस्त आईसीयू में घुस गए हैं, डॉक्टर कांप रहे हैं, बच्चे बेहोश हैं, मांएं रो रही हैं, सरकारें भरे पेट लीची खा रही हैं।

भरे पेट खाने पर लीची ज्यादा मीठी और अतिरिक्त तौर पर स्वादिष्ट लगती है। तब आपको अस्पताल, बीमारी, गरीबी, डॉक्टर, इंतजाम, मृत्यु, जीवन आदि पर उत्कृष्ट विचार आते हैं। भूखों ने गलती की। भूखे हमेशा गलती करते हैं, क्योंकि वे भूखे हैं। वे पेट भर लेते तो लीची जैसी लजीज चीज को बदनाम करने से बच जाते।

उधर गन्ने की मिठास ये है कि मांएं कोख हटवा रही हैं, इधर लीची की मिठास ये है कि जो कोख से दुनिया में आ गए, वे मरकर लौट रहे हैं। ये अजन्मों से जनमे हुए सच की दरांती है, जिसने सीना चाक कर दिया है। मगर सीना चाक करने के मुहावरे को उड़ाकर सेर भर ज्ञानियों ने सवा सेर मिट्टी लेकर मन के कुम्हारों का आंगन देख लिया है। सरकारें उस चाक पर अपने ज्ञान के बर्तन बनाए जा रही हैं।

उधर कुछ सवा सेर ज्ञानी हैं वे शिल्पग्राम के 'बुटीक' किस्म के चाक लेकर राजधानी में सुराहियां बनाने बैठ गए हैं। बुद्धि के रेस्टोरेंट में ये जनता से जुड़ी मिट्टी के मार्केटियर हैं। सुराहियों में विचारधारा का ठंडा पानी है, पियो और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से ऊपर उठ जाओ।

एक सुबह बीड़ में होती है, गन्ने के खेतों के बीच। एक सुबह मुजफ्फरपुर में होती है, अस्पताल की देहरी पर। एक सुबह अलवर में होती है, तार-तार बच्ची की शक्ल में। एक सुबह दिल्ली में भी होती है। चिंतक पर चिंता का 'ओवरलोड' है। लोधी गार्डन से हवाखोरी करके तृप्त हुए श्वान को खिलाता हुआ चिंतक, फौजियों के साथ ड्यूटी पर तैनात, योग करते श्वान पर लतीफा सुनाता है और हे-हे करके क्रांति का उबला हुआ नाश्ता करता है। अब वह बलात्कार, लूट, मौत, भूख, मुठभेड़ सबको पहले विचारधारा की टेस्ट-ट्यूब में डालेगा और मनमाफिक रंग आने पर राष्ट्र पर खतरे का बुलेटिन जारी करेगा।

दो सयाने रो रहे हैं, अध्यक्ष इस्तीफे पर अड़े हैं। उन्हें मना लें, पीछे देश देखें। दो दीवाने रो रहे हैं, सीबीआई बिठा दी है, उसके खिलाफ आंदोलन सैट कर लें, पीछे देश देखें। दो अज्ञानी रो रहे हैं, देश में गन्ना है, देश में लीची है, देश में श्वान हैं, देश में बच्चे हैं, देश में औरतें हैं, देश में ये देश है और यही देश है। इसे देखें, पीछे कोई और देश देखें।

बेचारे 'अज्ञानी' फील्ड में हैं। वही तो फील्ड में होंगे। ज्ञानी तो बक्से में बैठते हैं और लीची खाते हैं। चैनल से उतर ट्विटर पर उड़ते हैं फिर गन्ने का रस पीकर मधुशाला का फोटो ट्वीट करते हैं।

गन्ना काटती औरत, लीची खाते भूखे बच्चे, निष्ठा के साथ सन्नद्ध श्वान - यह सब तो आदि-इत्यादि हैं।

बोलिए -

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

सरकार के भीतर सरकार

आज हम जिस मुख्य चुनौती का सामना कर रहे हैं, वह नीति निर्माण नहीं है। आज जो मुख्य चुनौती है, वह नीति बनाने को लेकर नहीं है। यह नीति के कुशल, किफायती और उत्कृष्ट कार्यान्वयन में है।

पी चिदंबरम

पूर्व केंद्रीय मंत्री

हर सरकार तब हैरत में पड़ जाती है, जब उसका सामना किसी गंभीर संकट से होता है। इसमें किसी न किसी की तो गलती होती है, लेकिन कोई जिम्मेदारी नहीं लेता। आखिर में जिम्मेदारी सरकार के मुखिया यानी मुख्यमंत्री या प्रधानमंत्री पर ही आती है। हालांकि गहरी जांच से पता चलेगा कि वह पहले व्यक्ति नहीं हैं, जिन्हें जिम्मेदार ठहराया जाना चाहिए।

क्रूर मौतें

इंसेफेलाइटिस के प्रकोप ने बिहार के मुजफ्फरपुर में 140 बच्चों को लील लिया है, जिस पर गौर किया जाना चाहिए। केंद्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय के मैनेजमेंट इन्फर्मेशन सिस्टम के मुताबिक जिले में स्थित सभी 103 प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों और एकमात्र सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्र को पांच में से शून्य रेटिंग मिली थी, क्योंकि वे मूल्यांकन के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं (चिकित्सा अधिकारी, नर्स और आया) को पूरा नहीं करते थे। मुजफ्फरपुर के श्रीकृष्ण मेडिकल कॉलेज और अस्पताल की बाल चिकित्सा इकाई, जहां प्रभावित बच्चों का इलाज किया गया था, बाल चिकित्सा से संबंधित आईसीयू के रूप में अर्हता प्राप्त करने के मापदंड पूरा नहीं करती। इन तथ्यों के आधार पर किसे जिम्मेदारी उठानी चाहिए? कोई इसके लिए तैयार नहीं, इसलिए हम एक छोटे (और स्वादिष्ट) फल को जिम्मेदार ठहराएंगे, जिसे लीची के नाम से जाना जाता है! डॉक्टर कहते हैं कि लीची का सिर्फ उन बच्चों पर बुरा असर होता है, जिन्होंने रात को भोजन नहीं किया। तो उन बच्चों ने रात को भोजन क्यों नहीं किया? इसलिए क्योंकि वे गरीब हैं और उन्हें भोजन नहीं मिल सका। क्या कोई चीज इससे भी अधिक हताशाजनक और पीड़ादायक हो सकती है? (2008 और 2014 के दौरान इंसेफेलाइटिस से 6,000 मौतें हुईं।)

अभी कुछ दिन पहले गुजरात में वडोदरा के नजदीक एक होटल के सेप्टिक टैंक की सफाई करते समय सात सफाई कर्मचारियों की मौत हो गई। यह पहला मौका नहीं था, जब ऐसी त्रासदी हुई और दुखद है कि यह आखिरी बार नहीं है। सेप्टिक टैंक की सफाई कोई रॉकेट साइंस नहीं है। इसकी सफाई के लिए मशीनें उपलब्ध हैं और केरल के एक स्टार्ट अप ने इसका एक भारतीय संस्करण तैयार किया है। यदि किसी वजह से सीवर और सेप्टिक टैंक की सफाई के लिए कर्मचारियों की नियुक्ति जरूरी ही हो जाए, तो इसके लिए विशेष तरह के कपड़े, मास्क और ऑक्सीजन सिलेंडर उपलब्ध हैं। ऐसे किसी उपकरण की न तो कमी है और न ही गुजरात के सबसे अमीर नगर निगमों में से एक सूरत की वित्तीय क्षमता से बाहर की चीज है, इसके बावजूद सात गरीब व्यक्तियों को मरने दिया गया। (2011 से 2018 के दौरान भारत के सभी राज्यों में कुल 114 सफाई कर्मचारियों की मौत हो गई।)

आहत करने वाली उपेक्षा

एक और आहत करने वाला अविश्वसनीय आंकड़ा है: दिल्ली में रोजाना औसतन चार लोगों की सड़क हादसों में मौत हो जाती है। आप कल्पना कर सकते हैं कि चार लोग कल मारे जाएंगे, चार परसों और इसी तरह से चार के औसत से लोग रोजाना अकेले दिल्ली में मारे जाते हैं। पूरी दुनिया में एक साल के दौरान हवाई हादसों में मारे जाने वालों की संख्या इस आंकड़े का छोटा-सा हिस्सा भर होती है! आखिर हवाई यात्रा के लिए तो कड़े नियम हैं, लेकिन सड़क यात्रा के लिए शिथिल नियम क्यों हैं? (2011 से 2017 के दौरान दिल्ली में सड़क हादसों में 12,724 लोगों की मौत हो गई।)

क्या आपने कभी दिल्ली के बारापुला फ्लाईओवर से होकर यात्रा की है, जिस पर दिल्ली सरकार का पीडब्ल्यूडी विभाग 'गर्व' करता है और जिसे तैयार होने में बरसों लग गए? यह एक औसत फ्लाईओवर है, इसकी डिजाइन भी औसत है, यहां का सफर भी औसत ही है और इसका निर्माण भी बहुत खराब है। जरा रास्ते में वाहन के दोनों ओर की दीवारों पर नजर डालें, तो पता चलेगा कि ये या तो चिपट गई हैं या टूट गई हैं, ऊंचाई असमान है, स्लैब उखड़ गए हैं, बहुत ही खराब ढंग से प्लास्टर और रंग-रोगन किया गया और कुल मिलाकर यह बहुत बदसूरत है। इसके बावजूद यह सभी गुणवत्ता परीक्षण पास कर गया और ठेकेदार को भुगतान भी कर दिया गया और 2010 में फ्लाईओवर का उद्घाटन भी हो गया। अधिक दिन नहीं हुए जब इसे मरम्मत के लिए बंद करना पड़ा।

इरादे और अमल

इन सारे मामलों में, और आप ऐसे दूसरे मामलों पर भी विचार कर सकते हैं, कोई नीतिगत नाकामी नहीं थी। किसी भी सरकार की नीति होती है, स्वास्थ्य सुविधाओं और अस्पतालों का निर्माण तथा संसाधनों और कर्मचारियों का इंतजाम करना; शहरों और कस्बों में गुणवत्ता युक्त ढांचे का निर्माण करना और सौंदर्यीकरण इत्यादि। विधायिका और कार्यपालिका (मंत्रीगण) नीति बनाते हैं और स्वाभाविक रूप से चाहते हैं कि उस पर प्रभावी तरीके से अमल हो। लेकिन इरादे और अमल के बीच बड़ा अंतर है। क्यों? हम इसका जवाब देने में हिचकते हैं, लेकिन कहना जरूरी है : सरकार यानी गवर्नमेंट (जिसमें 'जी' केपिटल है) के भीतर एक और गवर्नमेंट (स्मॉल 'जी') है। इस स्मॉल-जी गवर्नमेंट ने बिग-जी गवर्नमेंट के साथ ही, कम से कम भारत में, लोगों को भी विफल कर दिया है। दो विरोधाभासी उदाहरणों से मैं इसे स्पष्ट करता हूं। नोटबंदी एक बड़ी नीतिगत भूल थी; जिन मंत्रियों ने इस नीति पर विचार किया और बिग-जी गवर्नमेंट का निर्माण किया उन्हें इसकी जिम्मेदारी लेनी चाहिए। दूसरी ओर जीएसटी एक अच्छी नीति है। इसके बावजूद इसने नोटबंदी जैसी परेशानी पैदा की, तो इसकी जिम्मेदारी स्मॉल-जी गवर्नमेंट को उठानी चाहिए। स्वच्छ भारत एक अच्छी नीति है, लेकिन राज्यों और गांवों में खुले में शौच करने की स्थिति से संबंधित गलत आंकड़े अंकित हैं और यह स्मॉल जी-गवर्नमेंट की धोखेबाजी को ही दर्शाता है। उज्ज्वला एक अच्छी नीति है, लेकिन एक वर्ष में तीन सिलेंडर बदलने जाने की दर स्मॉल-जी गवर्नमेंट की नाकामी है।

हम जब वोट देते हैं, तो हम लोग बिग-जी गवर्नमेंट के लिए वोट देते हैं। वहां एक स्मॉल-जी गवर्नमेंट भी होती है, जिस पर हम लोगों का कोई बस नहीं होता। उसके चयन, नियुक्ति, प्रशिक्षण, क्रमिक विकास, पदस्थापना, मूल्यांकन या पदोन्नति में हमारी कोई भूमिका नहीं होती। हम इसे ऐसे ही नहीं चलने दे सकते। हमें स्माल-जी गवर्नमेंट को फिर से गढ़ना होगा। जिस तरह से हम लोग बिग-जी गवर्नमेंट और उस पर काबिज लोगों को हर पांच साल में पुरस्कृत करते हैं या दंडित करते हैं, उसी तरह से हमें हर पांच साल या उससे पहले स्माल-जी गवर्नमेंट और उस पर काबिज होने वालों को दंडित या पुरस्कृत करने का रास्ता तलाशना होगा।

आज हम जिस मुख्य चुनौती का सामना कर रहे हैं, वह नीति निर्माण नहीं है। आज जो मुख्य चुनौती है, वह नीति बनाने में नहीं है। यह नीति के कुशल, किफायती और उत्कृष्ट कार्यान्वयन में है।

Licensed by The Indian Express Limited

पर्यटन से बिगड़ती पारिस्थितिकी

मैदानों में गर्मियां बढ़ते ही आजकल लोग पहाड़ों का रुख करने लगे हैं, जिससे पहाड़ों में समस्याएं खड़ी होती हैं, तो पर्यटकों को भी जाम और दूसरी मुसीबतों से जूझना पड़ता है।

पहाडों को टूरिस्ट डेस्टिनेशन के रूप में बनाने की कवायद हमेशा ही रही है। कुछ हद तक शायद यह पहाड़ों की आवश्यकता भी रही है, जहां रोजगार के ज्यादा साधन नहीं हैं। उत्तराखंड के केदारनाथ, बदरीनाथ, गंगोत्री व यमुनोत्री में लाखों श्रद्धालु हर साल धार्मिक पर्यटक के रूप में आते हैं। लेकिन कुछ समय से एक नई प्रवृत्ति शुरू हुई है। जैसे ही मैदानी इलाकों में गर्मी जोर पकड़ती है, लोग पहाडों का रुख कर लेते हैं। इस साल अब तक 28 लाख लोग पहाड़ पर पहुंच चुके हैं। कई मायनों में पर्यटन पहाड़ों के लिए सीधे रोजगार का बड़ा काम करता ही है और इसने किया भी है। सबसे बड़ी बात मैदान के लोगों का पहाड़ को समझने का दृष्टिकोण भी इसमें ही होता है। पर पहाड़ों में इस बार दोनों ही तरफ बड़ी चोट पहुंची है, जो अप्रत्याशित भीड़ के रूप में हमारे बीच में आई। जैसे ही इस बार की गर्मी ने मैदानों को तिलमिलाया, दो-चार दिन के लिए सबने पहाडों का रुख कर लिया। उत्तराखंड और हिमाचल प्रदेश का शासन-प्रशासन इस बात के लिए कतई तैयार नहीं था और न ही यह कल्पना की गई थी कि पहाड़ में पर्यटकों की तादाद इतनी बढ़ जाएगी। दूसरी तरफ जो लोग उत्तराखंड व हिमाचल प्रदेश को देखने और आनंद लेने की अपेक्षाओं से आए थे, उन्हें असुविधा हुई, क्योंकि कई किलोमीटर लंबे घंटों के जाम के साथ तमाम तरह की अव्यवस्थाओं व असुविधाओं ने उन पर गलत तरह की छाप निश्चित रूप से छोड़ दी और शायद अगली बार वे सोच-समझ कर ही पहाड़ का रुख करेंगे।

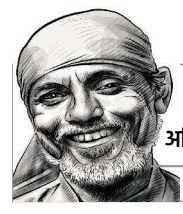

अनिल प्रकाश जोशी

रोजगार के रूप में पर्यटन की समीक्षा करने का समय आज आ चुका है। ढेर सारी संख्या में पर्यटकों के आवागमन, रहने-खाने और अन्य व्यवस्थाओं को कहीं-कहीं हल्के में लिया जाता रहा है। हमने केदारनाथ की घटना के बाद भी नहीं सीखा कि हमें रेगूलेटेड टूरिज्म यानी विनियमित पर्यटन पर ध्यान देना चाहिए। पहाड़ों पर लोग पहले भी आते रहे हैं, लेकिन गाड़ियों की संख्या अब ज्यादा है। औसतन एक जाम अगर चार घंटे का भी हुआ और उसमें 1,000 गाड़ियां फंसीं, तो इसमें तेल डीजल/पेट्रोल की खपत लगभग खड़े-खड़े ही 16,000 लीटर होगी। यही नहीं, ये गाड़ियां 2.5 किलोग्राम के हिसाब से 32,000 किलो कार्बन डाई ऑक्साइड उगल देगी। इसमें एक तरफ जहां आर्थिक नुकसान जुड़ा है, वहीं दूसरी तरफ प्रदूषण की मार भी पड़ती है और समय की बर्बादी इससे अलग। ऐसी स्थिति में पर्यटकों की आस्था और आनंद हवा हो जाएंगे।

चूंकि आज सब अपनी गाड़ी से पहाड़ों की ओर दौड़ पड़ते हैं, ऐसे में, टूरिस्ट सर्किट बनाना जरूरी है। दुनिया भर में पर्यटन 17 फीसदी रोजगार का कारण है, इसलिए इसे हल्के में नहीं लिया जा सकता। ऐसे में, पर्यटकों की बढ़ती भीड़ को पहाड़ के चंद पड़ावों की ही तरफ न झोंककर अन्य स्थानों को भी विकसित किया जा सकता है, जो पर्यटकों की अपेक्षाओं पर खरा

उतर सके। ऐसे ही पहाड़ी पर्यटन स्थलों पर कूड़ा एक बड़ी समस्या है। यात्री कूड़ा-कचरा लेकर आते हैं और पहाड़ों पर कूड़े का एक बड़ा पहाड़ खड़ा कर देते हैं। इसके निस्तारण की व्यवस्था का अभाव निश्चित रूप से हिमालय को एक नए खतरे की तरफ धकेल देगा। इस स्थिति में खासतौर से दो तीन बातों को ध्यान में रखना होगा। एक यह कि जब भी पर्यटक मैदानों से पहाड़ों की तरफ रवाना हों, वहां पर एक मैकेनिज्म हो, जिससे इस तरह के कूड़े पर नियंत्रण कर दिया जाए। उदाहरण के लिए, लाखों की संख्या में पर्यटक बोतलबंद पानी का इस्तेमाल करते हैं और पानी पीने के बाद वे बोतल गंगा-यमुना और छोटे-छोटे गड्ढे-गदेरों में, सड़क के किनारे, जंगल में कचरे के रूप में जमा हो जाते हैं। खाने-पीने के बाद फेंके जाने वाले प्लास्टिक भी पहाड़ के लिए संकट का कारण बन गया है। अगर आज हमने कोई ठोस निर्णय नहीं लिया, तो पहाड़ में भी वही स्थितियां पैदा हो जाएंगी, जो मैदानी इलाकों में हैं।

यह कितनी बड़ी बिडंबना है कि पर्यटक हिमालय में पानी की बोतलें लेकर आते हैं। जो हिमालय गंगा, यमुना ब्रह्मपुत्र और तमाम नदियों को पानी पिलाता है, वहां पर्यटकों को पानी की बोतल लेकर क्यों चढ़ना पड़ता है? ऐसे में, इस सवाल का खड़ा होना लाजिमी है कि आखिर हम हर सौ मीटर पर अपने ही पानी को फिल्टर करके पर्यटकों को पानी क्यों नहीं पिला सकते। पानी के इस व्यापार को हम अपने हिस्से में क्यों नहीं रख सकते? उससे दो बड़े फायदे होंगे। एक तो बड़े रोजगार के रूप में पानी हमारे बीच में होगा। और दूसरा यह कि बोतलों के कचरे से हम मुक्त हो जाएंगे। हमें यह भी सोचना होगा कि पर्यटकों को अगर पहाड़ों पर आकर चिप्स ही खाने हैं और कोकाकोला ही पीना है, तो फिर पहाड़ की पहचान कैसे बनेगी। बेहतर होगा कि पहाड़ जो तमाम तरह के फलों व अनाज के उत्पादक भी हैं, उन्हीं के उत्पाद पर्यटकों को उपलब्ध कराए जाएं। इससे हमारा रोजगार बढ़ेगा और हमारे संसाधनों के रास्ते खड़े होंगे और साथ में इस कुड़े-कचरे से भी हम मुक्त हो जाएंगे।

इस अव्यवस्था का एक बड़ा कारण यह भी है कि हमने आज तक पर्यटन कौशल घर गांव के बीच में विकसित नहीं किया। हम एक टास्क फोर्स बना सकते हैं, जिससे स्किल डेवलपमेंट ट्रेनिंग से रोजगार के लिए भटक रहे युवाओं के रोजगार का यह एके माध्यम बने।

ये बड़ी चुनौतियां हैं, जिन पर बड़ी गंभीरता से शासन और आम आदमी को सोचना पड़ेगा। आज अगर हम इसका लाभ नहीं उठा पाए, तो पर्यटक जिस उत्साह से हमारे बीच में आते हैं, उनको हम हिमालय के बारे में नहीं समझा पाएंगे और न ही खुद समझ पाएंगे कि हम कहां पर किस तरह से विफल हुए। सच तो यह है कि पर्यटन में कड़े कानूनों की व्यवस्था भी करनी होगी, ताकि हिमालय और दर्शनार्थी सुरक्षित रह सकें।